

पंचम अध्याय

नय तथा प्रमाण

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वाद नयसंज्ञितौ ।

स्याद्वादः सकलादेशोःनयो विकलसंकथा ।।¹

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों का समवाय है। वस्तु में अनन्त विरोधी युगल एक साथ रहते हैं। एक ही वस्तु में वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी युगलों का प्रकाशन करना ही अनेकान्त है। नित्यत्व—अनित्यत्व, वाच्यत्व—अवाच्यत्व, एकत्व—अनेकत्व आदि विरोधी धर्म परस्पर सापेक्ष रहकर ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते हैं। जैनदर्शन के तीन मूलभूत सिद्धान्त हैं—

1. अनेकान्तवाद,
2. नयवाद,
3. स्याद्वाद ।

आगम युग में नयवाद प्रधान था। दार्शनिक युग अथवा प्रमाण युग में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद प्रमुख बन गए, नयवाद गौण हो गया।

सिद्धसेन ने अनेकान्त की परिभाषा 'अनेके अन्ता धर्मा यत्र सोऽनेकान्तः' नयवाद के आधार पर की है। नयवाद अनेकान्त का मूल आधार है। जिस प्रकार शास्त्रों का आधार अकार आदि अक्षर हैं, साधुओं की समस्त साधना का आधार सम्यक्त्व है तथा धातुसमूह के शोधन का मूल पारा हैं, उसी प्रकार अनेकान्त का मूल है—नयवाद। पण्डित सुखलालजी व बेचरदासजी ने सन्मति प्रकरण की प्रस्तावना में अनेकान्त से फलित वादों की चर्चा की है, जिनमें एक प्रमुख वाद है—नयवाद।²

आगम युग में नय, स्याद्वाद और अनेकान्त, ऐसा विभाग नहीं था। यह विभाग दार्शनिक युग में हुआ।

1. 'स्यादस्त्येव'— यह प्रमाण है।
2. 'सत् अस्ति'— यह नय है।

1 लघीयस्त्रय का 62 पृ. सं. 21

2 नयचक्र गाथा 158

3. 'सदेव'— यह दुर्नय है।³

आगम युग में 'स्यात्' का प्रयोग नय के साथ हुआ है। भगवतीसूत्र आगम ग्रन्थ में नय के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग करते हुए प्रसंग प्रयुक्त हैं, जिसमें स्यात् शब्द का प्रयोग करते हुए गौतम ने पूछा—भंते! जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

महावीर — गौतम! जीव स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत।

गौतम— भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— जीव स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत? महावीर— गौतम! द्रव्य की अपेक्षा जीव शाश्वत् है, भाव की अपेक्षा जीव अशाश्वत है।⁴ यहाँ स्यात् शब्द का प्रयोग 'अपेक्षा' आधारित है तथा जीव के शाश्वत अशाश्वत स्वरूप को स्पष्ट करना सूत्रकार की नयात्मक दृष्टि का परिचायक है। द्रव्य द्रव्यार्थिक नय का विषय है। भाव पर्यायार्थिक नय का विषय है।

एक दूसरे प्रसंग में कहा गया है— गौतम ने पूछा—भंते! नैरयिक शाश्वत है या अशाश्वत? महावीर ने कहा— गौतम नैरयिक स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत है। अव्युच्छित्ति नय की अपेक्षा शाश्वत है, व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा अशाश्वत है। अव्युच्छित्ति नय का प्रयोग द्रव्यार्थिक और व्युच्छित्ति नय का प्रयोग पर्यायार्थिक नय के लिये हुआ है।⁵

माइल्ल धवल ने इस विषय पर एक सटीक टिप्पणी की है— नय के बिना स्याद्वाद का बोध नहीं हो सकता। इसलिये जो एकान्तवाद का निरसन करना चाहे, उसे नय का बोध अवश्य करना चाहिए।⁶

दार्शनिक युग में प्रश्न उपस्थित हुआ—नय के द्वारा वस्तु के एक पर्याय का ज्ञान और कथन होता है। उससे समग्र वस्तु का प्रतिपादन और कथन नहीं हो सकता।

इस कथन का उत्तर देने के लिये प्रमाण और नय— ये दो विभाग किये गए। उमास्वाति ने अधिगम के दो साधन बतलाए हैं—

3 अन्ययोग व्यवच्छेदिका, श्लोक 28

4. भगवती सूत्र 7/58-59

5 भगवती सूत्र 7/93-94

6 नयचक्र गाथा 174

1. नय और 2. प्रमाण⁷

हम नय, अनेकान्त और स्याद्वाद को इस प्रकार निरूपित कर सकते हैं—

1. वस्तु के एक—एक पर्याय का बोध और कथन करने वाला नय है।
2. वस्तु के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य— इन तीनों का बोध और प्रतिपादन करने वाला अनेकान्त।
3. ध्रौव्य और उत्पाद—व्यय जैसे विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों में समन्वय स्थापित करने वाला स्याद्वाद।

इनमें नय मूल है। अनेकान्त और स्याद्वाद उसका उत्तरकालीन विकास है।

अनेकान्त को तत्त्वमीमांसा का सिद्धान्त, स्याद्वाद को तार्किक सिद्धान्त और नयवाद को ज्ञान—मीमांसा का सिद्धान्त बतलाया जाता है। यह धारणा दार्शनिक युग के आधार पर बनी हुई है। कुछ विद्वानों ने स्याद्वाद की सप्तभंगी को तार्किक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। वास्तव में अनेकान्त, स्याद्वाद और नय—ये तीनों ज्ञान मीमांसा के अंग हैं। इनका सम्बन्ध श्रुतज्ञान से है।

नय का अर्थ एवं स्वरूप:—

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। उसे जाना जा सकता है पर उसका एक साथ प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। वस्तु के एक—एक धर्म का विश्लेषण करके ही उसका यथार्थ प्रतिपादन किया जा सकता है। नय की पद्धति मूलतः विश्लेषणात्मक पद्धति है। इसमें वस्तु के किसी एक धर्म का बोध होता है। 'णीन' प्राप्ते धातु और अव प्रत्यय के योग से निष्पन्न नय पद का अर्थ है प्राप्त कराना अथवा बोध कराना। जो वस्तु को प्राप्त कराता है अथवा उसका सम्यक् बोध कराता है, उसे नय कहा जाता है।

'नयन्ति गमयन्ति प्राप्नुवन्ति वस्तु स्वरूपं ये ते नयाः'

⁷ तत्त्वार्थ सूत्राधिगम 1 6 प्रणामनयैरधिगमः।

संसार में व्यवस्थित पदार्थों का जैसा स्वरूप है, उसका वैसा ही बोध अथवा ज्ञान जिससे कराया जाता है, वह नय है—⁸

द्रव्याणां तु यथारूपं तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम् ।

तथा ज्ञानेन संज्ञातं नयोऽपि हि तथाविधः ।।⁹

आचार्य वीरसेन ने धवला टीका में नय को परिभाषित करते हुए लिखा है—

प्रमाणपरिगृहीतार्थकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः ।¹⁰

प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के एक देश में वस्तु का निश्चय करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने भी नय के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं— 'स्याद्वादविभक्तार्थविशेषव्यंजको नयः।' स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान के द्वारा गृहीत अर्थ के विशेषो अर्थ धर्मो का जो अलग-अलग कथन करता है, उसे नय कहते हैं। जैनसिद्धान्तदीपिका के दसवें प्रकाश में आचार्य तुलसी ने नय को परिभाषित करते हुए कहा है—

'अनिराकृतेतरांशो वस्त्वेशग्राही प्रतिपत्तुरभिप्रायो नयः ।'¹¹

वस्तु के अन्य अंशो का निराकरण न करने वाले तथा उसके एक अंश का ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है। जैनदर्शन के मत में वस्तु अनन्त धर्मो वाली है। इस अनन्त धर्मो में से अपने इष्ट धर्म को जानना नय कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जिसके द्वारा पदार्थ के एक अंश का ज्ञात किया जाए, वह नय है। किसी वस्तु में अपने इष्ट धर्म को सिद्ध करते हुए अन्य धर्मो में उदासीन होकर वस्तु का जो विवेचन करता है, वह नय है, जैसे—यह घट है। अतः नय वह है, जिससे अनन्त धर्मात्मक वस्तु का एक अंश ज्ञात किया जाता है।

लघीयस्त्रय में ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल मार्त्तण्ड में लिखा है—

8 उत्तराध्ययन चूर्णि पृ. 138

9 माइल्ल धवल- नयचक्र, परिशिष्ट, पृ. 224

10 धवला सं. , पृ. 73

11 जैन सिद्धान्त दीपिका, सू. 10६ 3 पृ. 164

‘अनिराकृतप्रतिक्षेपो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायोनयः।’¹²

प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए वस्तु के एक अंश या धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार—

‘वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात्।

साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः।’¹³

अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं। राजववार्तिक में प्रमाण प्रकाशित अर्थ विशेष प्ररूपक नय है। सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र में लिखा है—

जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति।

निवर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलभ्यन्ति व्यंजयन्तीति नयः।’¹⁴

अर्थात् जीवादि पदार्थों को जो लाते हैं, प्राप्त करते हैं, बनाते हैं, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रकट कराते हैं, वे नय है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ‘नय’ शब्द का विमर्श करते हुए कर्ता, कर्म, भाव, सम्बन्ध, अधिकरण आदि अनेक दृष्टियों से विचार किया है। उसके अभिमत से वक्ता जिन संभावित पर्यायों से वस्तुबोध करता है, वह नय है। वस्तु की अनेक पर्यायों की संभावना से विवक्षित पर्याय का अधिगम कराना नय है। अनंत धर्मात्मक वस्तु का एकांशग्राही बोध नय कहलाता है। जैन चिंतको ने इसी नय के स्वरूप पर चार प्रकार से प्रकाश डाला है—

1. प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करना नय है।
2. श्रुतज्ञान का विकल्प नय है।
3. ज्ञाता का अभिप्राय नय है
4. नाना स्वभावों में वस्तु को पृथक करके जो एक स्वभाव में वस्तु को स्थापित कराता है, वह नय है।

¹² जैन सिद्धान्त दीपिका, सू. 10६ 3 पृ. 164

¹³ सीवार्थसिद्धि 1६ 13

¹⁴ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र 1६35 पृ. 63

उमास्वाति ने अधिगम के दो मुख्य उपायो की चर्चा करते हुए 'नय' का भी उल्लेख किया है। तत्त्वार्थभाष्य में नय की परिभाषा अध्यवसाय विशेष के रूप में की गयी है।

निष्कर्ष रूप में ज्ञाता का वह अभिप्राय नय कहलाता है। जिसमें किसी एक धर्म का ग्रहण होता है, पर शेष धर्मों का अपलाप नहीं किया जाता। अविवक्षित धर्मों के प्रति ज्ञाता अथवा वक्ता का अभिप्राय सदैव तटस्थतापूर्ण होता है और यही नय की यथार्थता का एक महत्वपूर्ण आधार है।

नय के भेद :-

'द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च'¹⁵ नय के दो भेद हैं। अभेदग्राही नय को द्रव्यार्थिक और भेदग्राहीनय को पर्यायार्थिक कहा जाता है। आगम ग्रंथों में अपेक्षावाद से नयों के वर्गीकरण में विभिन्नता मिलती है। आचार्य विद्यानन्दी ने सामान्य से नय का संक्षेप में दो, विस्तार से सात और अतिविस्तार से संख्यात भेद वाला बतलाया है।

संसार का प्रत्येक पदार्थ सदसत् एकानेक, वाच्यावाच्य रूप विभिन्न विरोधी दृष्टियों का संगम है। वस्तु का विराट स्वरूप शब्दों की सीमा से परे होता है। प्रत्यक्षदर्शी के लिए वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्ष है पर अभिव्यक्ति की दृष्टि से वे भी ज्ञात तत्व के अनन्तवें भाग का ही स्पर्श कर पाते हैं। ज्ञात का अनन्तवां भाग व्यक्त होता है। और उसका भी अनन्तवां भाग श्रुतनिबद्ध होता है। वे सम्पूर्ण द्रव्यों की अशेष पर्यायों को हस्तामलकवत् साक्षात् देखते हैं। सूत्रकृतांग में भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए सूत्रकार ने 'अणंतचक्खू' विशेषण का प्रयोग किया है। अनंतचक्षु ही अनन्त धर्मों को जान सकता है। आचार्य पूज्यवाद के अनुसार नय अनन्त भी हो सकते हैं। कारण कि प्रत्येक वस्तु की शक्तियां अनन्त हैं। इसी तथ्य को प्रकारान्तर से अभिव्यजित करते हुए आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है 'जवाइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया'¹⁶ अर्थात् जितने जनपथ हैं, उतने ही नयवाद है। प्रत्येक शब्द या वाक्य किसी न किसी अर्थ का वाचक होता है और हर सार्थक कथन के पीछे

15 भिक्षुन्यायकर्णिका सूत्र 2 पृ. 34, 35

16 समन्ति प्रकरण 3 ६ 47 पृ. 655

अभिप्राय अवश्य रहता है। अभिप्रायों का विस्तार का फलित है। यदि हम विस्तार से संक्षेप में जाएं तो सम्पूर्ण ज्ञेय जगत् दो भागों में सीमित हो जाता है। एक है द्रव्य जगत् और दूसरा है पर्याय जगत्। अभेदग्राही दृष्टि द्रव्य को हम दर्शन की भाषा में क्रमशः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय कह सकते हैं। नय के दो भेद हैं—

1 द्रव्यार्थिक 2 पर्यायार्थिक। सन्मति प्रकरण में कहा है—

तित्थयरवयणसंगह विसेसपत्थारमूलवागरणी।

दळडिओं य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं।।¹⁷

तीर्थकरों के वचनों की सामान्य एवं विशेष रूप राशियों के मूल प्रतिपादक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। बाकी के सब इन दोनों के ही भेद है। सिद्धसेन ने अनेकान्त के प्रतिपादक इस ग्रंथ का प्रारम्भ अनेकान्त की आधारभूत इन दो दृष्टियों से किया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं ने इन्हे मूल नय के रूप में स्वीकार किया है। नय के अनेक वर्गीकरण है। नयचक्र में उनकी रूपरेखा प्रस्तुत की है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो मूल नय हैं।

‘दोचेवयमूलणयाभणियादव्वत्थपज्जयत्थगया।’ सिद्धसेन दिवाकर ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की व्याख्या सापेक्षता के आधार पर की है। तत्त्वनिरूपण की मूलभूत दृष्टियां भी ये दो ही हैं। समस्त ज्ञेय तत्वों को हम संक्षेप में सामान्य और विशेष इन दो राशियों में समाविष्ट कर सकते हैं। सिद्धसेन ने दोनों ही परस्पराश्रयता को उजागर करते हुए यही लिखा है—

दव्वडिओ ति तम्हा नत्थि णओ नियम सुद्धजाईओ।

ण यपज्जवडिओणाम कोई भयणाय उ विसेसो।।¹⁸

द्रव्यार्थिक नय नियमतः शुद्धजातीय अर्थात् विरोधी नय के विषयस्पर्श से मुक्त नहीं है। इसी तरह कोई पर्यायार्थिक नय भी विशुद्धजातीय नहीं है। नय का विभाग अनेक दृष्टियों से किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार सात नय मानते हैं—

नैगमसंग्रहव्यहवहारजुसूत्रशब्दसमभिरुढैवम्भूता नयाः।¹⁹

17 वही, 1/ 3 पृ. 271

18 सन्मति प्रकरण, 1/9

जबकि कुन्दकुन्दाचार्य नय के 47 भेद बतलाते हैं। तत्त्वार्थधिगमभाष्य में नय के 5 भेद बताए हैं— नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में विद्यमान नय के वर्गीकरण में नयों की संख्या नौ है—

1 द्रव्यार्थिक, 2 पर्यायार्थिक, 3 नैगम, 4 संग्रह, 5 व्यवहार,
6 ऋजुसूत्र, 7 शब्द 8 समभिरूढ 9 एवंभूत।

नय के सातों प्रकारों का उल्लेख स्थानांगसूत्र में उपलब्ध होता है। कालक्रम की दृष्टि में सात नयों का उल्लेख सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति और अनुयोगद्वार में हुआ है। सिद्धसेन दिवाकर नैगमनय को छोड़कर बाकी छः नय स्वीकार करते हैं—

पढमतिया दव्वत्थो पज्जयगाही य इयर जे भणिया ।

ते चदु अत्थपहाणा सद्दपहाणा दु तिण्णियरा ।²⁰

आचार्य सिद्धसेन ने नैगम को स्वतंत्र नय न मानकर नय के छह भेदों का ही निर्देश किया है। उन्होंने संग्रह और व्यवहारनय का द्रव्यार्थिकनय में तथा शेष ऋजुसूत्र आदि चारों नयों का पर्यायार्थिक नय में समावेश किया किया है। इतना ही नहीं ग्रन्थकार ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के परिप्रेक्ष्य में शुद्ध और अशुद्ध दृष्टि से भी विचार किया है। नयवाद में ऐसी बातों का भी उल्लेख किया है जो अपने आप में अपूर्व थीं। नय के छः भेद स्वीकृत किए नैगम नय को स्वतंत्र स्थान नहीं दिया। अभेदग्राही नैगम का संग्रह नय में और भेदग्राही नैगम का व्यवहार नय में समावेश कर छः भेदों की यौक्तिकता प्रतिष्ठित की।

आचार्य सिद्धसेन के सामने सप्तनय की परम्परा भी थी। यद्यपि सप्तनय की अवधारणा को प्रकारान्तर से स्वीकृत किया है तथापि षड्‌नयवाद की स्वीकृति उनकी अपनी मौलिक प्रस्थापना है। उनसे पूर्व यह अवधारणा किसी ने प्रस्तुत नहीं की पर उत्तरवर्ती साहित्यकारों जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, जिनदासगणि महत्तर ने इसे अपने ग्रंथों में अवश्य स्थान दिया है।

19 तत्त्वार्थसूत्र 1/33

20 गाथा 216

‘सन्मति प्रकरण’ में सिद्धसेन ने यद्यपि षड्‌नय की परम्परा का सूत्रपात किया तथापि वे नैगमनय की सता को सर्वथा इन्कार नहीं करते संग्रह और व्यवहार नय में नैगमनय का समावेश करके वे अवान्तर भेद से सातों नय स्वीकार करते हैं। वृत्तिकार उभयदेव ने प्रस्तुत ग्रंथ की टीका में सातों नयों का विस्तार से विचार किया है। यहा सक्षेप में सातो ही नयों का विचार किया जा रहा है।

1. नैगम नय :-

नयों में नैगमनय सर्वोपरि है। इस नय की महता इस बात में भी है कि निर्युक्ति आदि भाष्य ग्रंथों में नैक+गम, नैग+म तथ निगमे भवः ये तीन व्युत्पत्तियां उपलब्ध होती है। विशेषावश्यकभाष्य के वृत्तिकार के अनुसार गम का अर्थ—गमन है और जिसके मार्ग अनेक हो वह नैकगम कहलाता है। इस नैरुक्त विधि से नैकपद के ककार का लोप हो जाने पर नैगम शब्द निष्पन्न होता है—

जे नेगगमो, अणेगपहो, णेगमो, तेण गम्यतेऽनेनेति गमः पन्था, एकगयाः

पन्थानो यस्याऽसौ नैकगमः निरुक्तिविधिना ककारलोपात् नैगम इति²¹ ।

इसी नैगम से वस्तु का जो ज्ञान होता है, वही नैगमनय है। ‘नैकं गच्छतीति निगमः निगमो विकल्पः’²² जो एक को ही प्राप्त नहीं होता अर्थात् अनेक को प्राप्त होता हैं, वह निगम है। निगम का अर्थ विकल्प है। जो विकल्प को ग्रहण करे, वह नैगम नय है।

आचार्य तुलसी ने भिक्षुन्यायकर्णिका में नैगम नय को परिभाषित करते हुए कहा है—‘भेदाभेदग्राही नैगमः।’ भेद और अभेद दोनों का ग्रहण करने वाले नय को नैगम नय कहा जाता हैं। सिद्धसेन ने नैगमनय की स्वतंत्र सता स्वीकार न कर षड्‌नय की परम्परा को प्रारम्भ किया। उनके अनुसार नैगमनय का समावेश संग्रह और व्यवहार में हो जाता है। अतः नैगम की स्वतंत्र विवक्षा अनपेक्षित है। सिद्धसेन का यह विचार दार्शनिक जगत् में नय तो था ही, अपूर्व भी था।

21 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2182 पर वृत्ति
22 आलापपद्धति, सूत्र सं. 196, पृ. 184

2. संग्रह नय :-

जो संगहेदि सव्वं देस वा विवहदव्वपज्जायं ।

अणुगमलिंगाविसिट्ठं सो वि णओ संगहो होदि ।²³

अर्थात् जो नय समस्त वस्तु का अनेक द्रव्यपर्याय सहित अन्वय लिंग विशिष्ट संग्रह करता है, उसे संग्रहनय कहते हैं। कतिपय आचार्यों ने संग्रहनय पर गहन चिंतन किया है, जिनमें भिन्नता दृष्टिगोचर होनी स्वाभाविक है, जैसे— आचार्य पूज्यपाद के अनुसार संग्रहनय वह है, जो भेद सहित सब पर्याय को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करता है।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि जो समस्त विषयों से रहित है, वह सामान्य है और जो वाक्य सामान्य रूप से सभी पदार्थों को अभेद दृष्टि से एक रूप में संग्रह करता है वह संग्रहनय है। कुछ आचार्य व्यवहार की अपेक्षा न करके सत्तादि रूप से सकल पदार्थों का जो संग्रह करना है, उसे संग्रहनय मानते हैं, अनुयोगद्वारा सूत्र में कहा गया है कि जो एकीभाव कर पिण्डीभूत विशेष राशि को ग्रहण करने वाला है, उसी का नाम संग्रहनय है— इस तरह मूलतः संग्रहनय समान रूप से समस्त द्रव्यों का सम्यक्—संग्रहण करता है। 'संगहिपिंडियत्थ,संगहवयणंसमासओबिंति'²⁴ इस तरह मूलतः संग्रहनय समान रूप से समस्त द्रव्यों का सम्यक्— संग्रहण करता है।

3.व्यवहार नय :-

'व्यवहार' पद वि+अव उपसर्ग पूर्वक 'ह' हनणे धातु में घञ् प्रत्यय लगने से सिद्ध होता है। कोशकारों ने इसके अनेक अर्थ बतलाये हैं। इनमें आचरणत्र, बर्ताव, व्यवसाय, प्रथा, सम्बन्ध, कार्यविधि तथा अभियोग प्रमुख हैं। किन्तु जैनन्यायदर्शन में व्यवहार शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। यहा इसका अर्थ व्यवहरण अर्थात् भेद करना है।

संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानांविधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः²⁵ ।

23 कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 272

24 अनुयोगद्वारसूत्र 137

25 तत्त्वार्थसूत्र—अध्याय 1, सूत्र 33, की सर्वार्थसिद्धि टीका पृ. 101

संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गए पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना 'व्यवहारनय' है। सिद्धसेन दिवाकर ने एक ही गाथा में संग्रह और व्यवहार—दोनों नयो का स्वरूप प्रस्तुत किया है—

दव्वड्डियणयपयडी सुद्धा संगहपरुवणाविसओ ।

पडिरुवे पुण वयणत्थणिच्छओ तस्स ववहारो ।। 4 ।।²⁶

संग्रह नय अभेद के आधार पर प्रवृत्ति करता है, जहां अस्तित्व का प्रश्न हो सत् अथवा अभिन्न कहने से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है पर जहां उपयोगिता का प्रश्न हो वहां भेद का अवलम्बन अपरिहार्य हो जाता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए सिद्धसेन ने संग्रहनय का निर्देश करने वाली गाथा के ही अन्तिम दो चरणों में व्यवहारनय का निर्देश किया है। यह नय 'सत्' के प्रयोजनानुसार भेदों में विभक्त करता है। इसे परिमित अभेदस्पर्शी भी कहा जाता है। ऋजु का अर्थ प्रगुण है। नय पहले और पीछे वाले तीनों कालों के विषयों को ग्रहण न करके वर्तमानकाल के पदार्थों को ग्रहण करता है। ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिकनयो का मूल आधार मानते हैं। उसे वृक्ष की शाखा एवं प्रशाखाओं के रूप में स्वीकार करते हैं—'अर्जयतीति ऋजुः'²⁷ यह ऋजु पद की निरुक्ति कोशकारों ने इसके सीधा, सहज, खरा, ईमानदार, स्पष्टवाद, अनुकूल एवं इच्छा इत्यादि अनेक अर्थ किए हैं।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने 'उज्जुसुय' पद का शाब्दिक विमर्श करते हुए 'ऋजु'पद को अवक्रता का और 'सूत्र' को ज्ञान का वाचक माना है। यहां अवक्रपद से वर्तमान पर्याय ही अभिप्रेत है। वर्तमान से वर्तमान से व्यतिरिक्त सभी पर्याय वक्र होने से असत् होती है। अतः वे ऋजुसूत्र नय का विषय नहीं बनती।

4. शब्द नय :-

कालकारक, लिंग तथा संख्या के भेद से शब्द भेद होने पर भिन्न—भिन्न अर्थों को ग्रहण करने वाला शब्दनय है। शब्द पद 'शप् आक्रोशे' धातु से निष्पन्न होता

26 सन्मति प्रकरण, 1/4

27 आष्टे, संस्कृतम्— हिन्दी कोख पृ. 223

है। शब्द ही एक मात्र सर्वोत्तम साधन है, जिससे अपने विचारों एवं चिन्तनानुभव को दूसरों के समक्ष अभिव्यक्त करता है, किसी को बुलाया जाए, वह शब्द है—

‘शापनमाहवानमिति शब्दः।’²⁸

शब्दनय शब्दप्रधान होता है, अतः यह पर्यायवाची भिन्न—भिन्न शब्दों के वाच्यार्थ में भिन्नता नहीं मानता। सन्मतिप्रकरण में सिद्धसेन ने ऋजुसूत्र को पर्यायार्थिक नय की आधारभूत प्रकृति कहकर शब्दादि को उसी की शाखा माना है।

यह शब्दनय वैयाकरणों के शब्दार्थ सिद्धि का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। सिद्धि अनेकान्त से हो सकती है। जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता आचार्य पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण का प्रारम्भ ‘सिद्धिश्रैकान्तात्’ सूत्र से और आचार्य हेमचन्द्र ने हेमशब्दानुशासन का प्रारम्भ ‘सिद्धिः स्याद्वादात्’ सूत्र से किया है।

5. समभिरूढ नय :-

नाना अर्थों का सम् अर्थात् भिन्न अर्थ को छोड़कर एक अर्थ में मुख्य रूप से होना समभिरूढनय कहलाता है। इस नय के अनुसार एक वस्तु का अन्य वस्तु में संक्रमण नहीं होता। व्यक्ति या वस्तु का वाचक प्रत्येक शब्द भिन्न अर्थ का बोध कराता है।

सिद्धसेन ने समभिरूढनय को पर्यायार्थिकनय के आधारभूत ऋजुसूत्र नय की प्रशाखा के रूप में व्याख्यायित कर और अधिक सूक्ष्मता को अभिव्यंजित किया है। अभयदेवसूरि ने इस सन्दर्भ में घर, कुट और कुम्भ की भिन्नता का उदाहरण दिया है। घटते, कुटति और की भांति ये दोनो क्रियारूप निमित्त के भेद से भिन्न है।

6. एंवभूतनय :-

जिस नय में वर्तमान क्रिया की प्रधानता होती है, वह एंवभूतनय है। जिस शब्द का क्रिया अर्थ है, तदरूप क्रिया से परिणत समय में ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समय में नहीं, ऐसा जिस नय का अभिप्राय है, वह एंवभूतनय है। सिद्धसेन ने एंवभूतनय को सूक्ष्मतम दृष्टि के रूप में व्याख्यायित करते हुए उसे

28 प्रमेयकमलामार्तण्ड,पृ. 678— शप् आक्रोशे

ऋजुसूत्रनय की प्रतिशाखा कहा है। यही कारण है कि यह नय क्रियाकाल में ही वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करता है। पूज्यवाद के अनुसार जिस शब्द का जो वाच्य है, उस रूप क्रिया के परिणामकाल में ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयों में नहीं, जैसे जिस समय आज्ञा या ऐश्वर्यमान हो उस समय ही इन्द्र है, अभिषेक या पूजा के समय नहीं।

निष्कर्षतः कहना होगा कि एवंभूत नय शब्द और अर्थ दोनों को ही विशेषित करता है। नयवाद का आधार है—सापेक्षता। सभी नय परस्पर सापेक्ष हैं। एक नय दूसरे नय द्वारा गृहीत वस्तु की सत्ता का अपलाप नहीं करता, नैगमनय भेदाभेदग्राही होने से बहुविषयग्राही और स्थूल है।

संग्रहनय अभेदग्राही होने से नैगमनय ही अपेक्षा अल्प विषय ग्राही और सूक्ष्म है। संग्रहनय की अपेक्षा व्यवहारनय में तथा क्रमशः ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनय में विषय अल्प होता जाता है तथा सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। इस प्रकार वस्तु के यथार्थ बोध में सभी नय कार्यकारी है।

निक्षेप स्वरूप :-

हमारे व्यवहार के तीन मुख्य आधार हैं— ज्ञान, अर्थ, और शब्द। व्यवहार की सम्यग् योजना के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता है, उसका नाम है—निक्षेप। निक्षेप की अनेक व्याख्याएं विभिन्न ग्रंथों में मिलती हैं। जीतकल्पभाष्य²⁹ में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है—‘नि’ शब्द के तीन अर्थ हैं—ग्रहण, आदान और आधिक्य। क्षेप का अर्थ है— प्रेरित करना।

नयचक्र में आचार्य मल्लिसेन मल्लाधारी ने निक्षेप की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है— वस्तु का नाम आदि में क्षेप करने या धरोहर रखना निक्षेप है। षट्खण्डागम की धवला टीका में आचार्य वीरसेन ने निक्षेप की परिभाषा देते हुए लिखा— संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय में क्षेपण करता है, वह निक्षेप है।

29 जीतकल्पभाष्य 809

निक्षेप के भेद—

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से उनका सम्यग्दर्शन आदि जीव का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है। अनुयोगद्वार में भी कहा है—

जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खेव निरवसे सं।

जत्थ वि य न जाणेज्जा चउक्कगं निविखवे तत्थं।।³⁰

जहां जितने निक्षेप ज्ञात हों, वहां उन सभी का उपयोग किया जाये और जहां अधिक निक्षेप ज्ञात न हो, वहां नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव इन चार निक्षेपों का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। स्थानांग सूत्र में 'सर्व' शब्द के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं— नामसर्व, स्थापनासर्व, आदेशसर्व, निरवशेष सर्व।³¹

पण्डित दलसुख मालवणिया ने आदेश और निरवशेष को क्रमशः द्रव्य और भाव का सूचक मानकर उपर्युक्त चतुष्टयी के साथ निक्षेप चतुष्टय की तुलना की है। जिनभद्रगणि ने निक्षेप पद्धति के प्रयोजन को व्यक्त करते हुए लिखा है—नाम आदि निक्षेपों से शास्त्र का प्रतिपादन और ग्रहण सहज हो जाता है। यहां निक्षेप के न्यूनतम चार भेदों को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जा रहा है।

1. नाम निक्षेप :-

वस्तु की प्रतिपत्ति का एक महत्वपूर्ण आधार है—नाम। जाति, गुण, क्रिया, लक्षण आदि निमित्तों की अपेक्षा किये बिना मात्र संकेत के आधार पर संज्ञाकरण करना नामनिक्षेप कहलाता है। नाम निक्षेप में व्यक्ति वस्तु मात्र संकेतिक संज्ञा के द्वारा ही अभिद्येय बनती है। पर्यायवाची शब्द नामनिक्षेप में कार्यकारी नहीं होते। किसी बालक का नाम 'इन्द्र' रखा गया। उसे 'इन्द्र' शब्द से ही अभिहित किया जाएगा, शुक्र, पुरन्दर आदि शब्दों से नहीं। अनुयोगद्वार में 'नाम' प्रकरण के अन्तर्गत नामों की एक लम्बी तालिका उपलब्ध होती है। उन सबको नामनिक्षेप का उदाहरण माना जा सकता है।

30 अणुओगदाराई, सूत्र 7, गाथा 1

31 टाण, 4/302

2. स्थापना निक्षेप :-

बुद्धि के द्वारा इच्छित क्षेत्र के साथ एकत्व को प्राप्त हुए जिनमें बुद्धि के द्वारा इच्छित क्षेत्र की स्थापना की। ऐसे सद्भाव और असद्भाव स्वरूप काष्ठ, दन्त और शिला आदि स्थापना क्षेत्र निक्षेप है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार काष्ठकर्म, पुस्तककर्म, चित्रकर्म आदि में वह यह है इस प्रकार स्थापित करने को स्थापना कहते हैं।

3. द्रव्य निक्षेप :-

जो गुणों के द्वारा प्राप्त हुआ या गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणों को प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं। जो आगामी पर्याय की योग्यता वाला है, उसको वर्तमान में उस रूप कहना द्रव्य निक्षेप है।

4. भाव निक्षेप :-

वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव-निक्षेप कहते हैं या विवक्षित क्रिया में परिणत व्यक्ति अथवा वस्तु को भावनिक्षेप कहा जाता है। भावनिक्षेप में तन्मयता और तदुपयोग होता है। भावनिक्षेप में प्रशस्त अप्रशस्त परिणाम के आधार पर व्यपदेश होता है। जिनभद्रगणी ने उपर्युक्त चारों निक्षेपों में परिभाषित किया है। भावी अवस्था का कारण होने से वस्तु द्रव्यनिक्षेप है। कार्यापन्न वस्तु भावनिक्षेप है। जिनभद्रगणी ने चारों ही निक्षेपों के परस्पर भेदाभेद की भी विस्तृत चर्चा की है।

नय, निक्षेप सम्बन्ध :-

नय और निक्षेप दोनों ही वस्तुबोध की महत्वपूर्ण विधाएं हैं। दोनों ही वस्तु का विश्लेषणात्मक प्रक्रिया से बोध कराती हैं। निक्षेप भाषा विश्लेषण की विशिष्टपद्धति है जबकि नय ज्ञाता का अभिप्राय विशेष है। पूज्यवाद, अकलक, दिगम्बर विद्वान् हो जिनभद्र, हेमचन्द्रादि श्वेताम्बर विद्वान् सभी ने प्रथम तीन निक्षेपों को द्रव्यार्थिक नय का और भावनिक्षेप को पर्यायार्थिक नय का विषय माना है। सिद्धसेन दिवाकर ने सम्मत्सुतं में नय और निक्षेप के सम्बन्ध को दर्शाते हुए कहा है—

णामं ठवणा दविए ति एस दव्वड्डियस्स निक्खेवो ।
भावो उ पज्जवड्डियस्स परूवणा एस परमत्थो ॥³²

सिद्धसेन के अभिमत से नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीन द्रव्यार्थिक नय के निक्षेप है। भावनिक्षेप का सम्बन्ध पर्यायार्थिक नय से है।

सप्तभंगी :-

सप्तभंगी अनेकान्तवाद की व्याख्या की साधिका है। अनेकान्त जैनदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। स्याद्वाद का स्पष्ट रूप सप्तभंगी में देखने को मिलता है। अनेकान्त के सिद्धान्त के आधार पर यह बात सिद्ध है कि प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मों का आधार है। वे वस्तु में एक साथ रह तो सकते हैं किन्तु उन्हें एक साथ व्यक्त नहीं कर सकते हैं। इस कार्य के लिये कम से कम से उन धर्मों का वर्णन किया जाता है। जैसे घट में अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों धर्म रहते हैं। जब किसी एक धर्म की विवक्षा होती है तो वह प्रधान रूप से वहां रहता है, दूसरा अविवक्षित धर्म गौण रहता है। ऐसा कोई शब्द नहीं है जो अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों को एक साथ प्रधान रूप से व्यक्त कर सके। ऐसी स्थिति में अवक्तव्य का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इस प्रकार अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यत्व इन तीनों धर्मों के आधार पर सात भंगों में प्रत्येक वस्तु का वर्णन किया जाता है। इसलिये यहां सप्तभंगी शब्द का प्रयोग होता है।

‘सप्तां नामभंगानामवाक्यानामसमाहारः इति सप्तभंगी’ अर्थात् सात भंगों के समूह को सप्तभंगी कहते हैं। यह सातों भंग एक ही वस्तु को लेकर बनते हैं। जो सत् है वहीं असत् है, वहां अवक्तव्य है। इस प्रकार एक ही अधिष्ठान को लेकर सात भंग बनते हैं। तीन वस्तुओं का अपुनरुक्त भंग सात भी होते हैं जैसे:-

1. स्यादस्ति घटः – यहां अस्तित्व की प्रधानता है।
2. स्यादन्नास्ति घटः – यहां नास्तित्व की प्रधानता है।

32 सन्मति प्रकरण, 1/6

3. स्यादस्तिनास्ति च घटः – यहां कम से अस्ति तथा नास्ति दोनों की प्रधानता होती है।
4. स्याद वक्तव्यों घटः – यहां किसी की प्रधानता नहीं है।
5. स्यादस्ति न अवक्तव्यश्च घटः –
6. स्यादनास्ति च अवक्तव्यश्च घटः –
7. स्यादस्ति नास्ति च अवक्तव्यश्च घटः –

इन सात भंगों में पहला, दूसरा और चौथा ये मूल भंग हैं। तीसरा पांचवा तथा छठा भंग द्विसंयोगी भंग हैं। सातवा भंग त्रिसंयोगी भंग है। यहा प्रश्न होता है कि भंग सात ही क्यों।

भंग सात ही क्यों इस बात का उत्तर यह है कि किसी वस्तु को जानने में सात प्रकार के संशय होते हैं। सात प्रकार के संशय से सात प्रकार की जिज्ञासा होती है। सात प्रकार की जिज्ञासा से सात प्रकार के प्रश्न होते हैं और सात प्रकार के प्रश्नों के उत्तर भी सात ही होते हैं। इसलिये भंग सात ही होते हैं—

भंगाः सत्त्वादयः सप्त,संशयाः सप्त तद्गताः।

जिज्ञासाः सप्त सप्तस्युः, प्रश्नाः सप्तोत्तराण्यपि।।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में आये हुए सत् और असत् शब्द को देख कर जैनदर्शन के सत् और असत् वेद से प्रमाणित करते हैं। यह बात ठीक नहीं है स्याद्वाद का जो सत् और असत् है वह एक ही वस्तु है जो अपेक्षा भेद से सत् और असत् हो जाती है किन्तु ऋग्वेद का सत् और असत् ये दोनों तत्त्व पृथक् पृथक् हैं। ये अपेक्षावाद पर आधारित नहीं है। इस प्रकार कहा गया है— 'यतो वाचो निवर्तन्तेअप्राप्यमनसा सह'³³ अर्थात् जहाँ से मन सहित वाणी लौट आती है इस उक्ति के द्वारा अवक्तव्यत्व की सिद्धि करते हैं किन्तु यह बात भी मनोग्राह्य नहीं होती है। इसका कारण यह है कि उपनिषद् ब्रह्मविद्या है। इसमें केवल ब्रह्मवाद की

33 तैत्तरीयोपनिषद् पृं 313

बात है। ब्रह्म, मन, वाणी तथा इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह केवल योगसाधना का विषय भी नहीं है, उसी में उपनिषदों का तात्पर्य हैं।

अनेक धर्मात्मक वस्तु को यथार्थ रूप में व्याख्यायित करने के साधन को सप्तभंगी कहते हैं। यह सात प्रकार का वचन विन्यास एक वस्तु विशेष्यक होता है। उदाहरण के लिये घट को लिया जा सकता है। घट का उद्देश्य बनाकर सात प्रकार के जो वचन बोले जाते हैं वे ही सप्तभंगी कहे जाते हैं। वस्तु के बोध के लिये चार दृष्टियां हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन चारों के आधार पर ही वस्तु का अस्तित्व और नास्तित्व आदि की प्रस्तुती होती है।

घट यदि मिट्टी का बना हुआ है तो उस रूप में उसका अस्तित्व है किन्तु स्वर्णमयत्व दारुमयत्व के अपेक्षा घट का नास्तित्व है। इसी प्रकार क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से वस्तु का अस्तित्व और नास्तित्व होता है। इसलिये एक वस्तु विशेष्यक अविरुद्ध विधिनिषेध प्रकारक बोध जनक सप्त वाक्य पर्याप्त हैं। यह सप्तभंगी का लक्षण किया गया है उस लक्षण के आधार पर अनेकान्त की व्याख्या स्याद्वाद की भाषा में की जाती है। एक वस्तु में अनेक धर्म तो रह सकते हैं, किन्तु उन्हें एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता है। जिसकी विवक्षा प्रधान रूप में की जाती है वह वहाँ प्रधान होता है और दूसरा धर्म अप्रधान हो जाता है। घट में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म हैं। इनमें कभी अस्तित्व प्रधान होता है, और कभी नास्तित्व और कभी अवक्तव्य।

यह जैनमत का आधार भूत एक तथ्य है। सप्तभंगी में प्रवृत्ति का हेतु तत्वार्थ ज्ञान के ऊपर प्रमाण तथा नय वाक्यों का प्रयोग करना है।

‘प्रमाणनयैरधिगमः’³⁴। प्रमाण वाक्य को प्रमाण सप्तभंगी तथा नय वाक्य को नय सप्तभंगी कहा जाता है। प्रमाण सप्तभंगी से वस्तु का पूर्ण रूप से ज्ञान होता है। नय सप्तभंगी से अंशमात्र (एकदेश) का ज्ञान होता है।

34 तत्वार्थसूत्र 1/6

प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी:—

एक ज्ञान एक समय में अनेक धर्मात्मक वस्तु को जान सकता है। उसी तरह एक शब्द एक समय में वस्तु के अनेक धर्मों का बोध नहीं करा सकता। वक्ता किसी एकधर्म का अवलम्बन लेकर ही वचन व्यवहार करता है। यदि वक्ता एक धर्म के कथन के द्वारा पूर्ण वस्तु का बोध कराना चाहता है तो उसका वाक्य प्रमाण वाक्य कहा जाता है। यदि एक ही धर्म का बोध कराना चाहता है, वर्तमान शेष धर्मों के प्रति उसकी दृष्टि उदासीन है तो उसका वाक्य नयवाक्य कहा जाता है।

नय के लक्षण के अनुसार जितना भी वचन व्यवहार है वह सब नय है। सिद्धसेन दिवाकर ने नयों के भेदों की संख्या बतलाते हुए कहा है कि जितने वचन के मार्ग है उतने ही नयवाद है। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन इन दोनों ने 'आप्तमीमांसा' तथा 'सन्मति तर्क' में नय सप्तभंगी का ही कथन किया है।

जैनन्याय के प्रस्थापक अकंलकदेव ने सर्वप्रथम प्रमाण सप्तभंगी का कथन किया है। उनके अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में वस्तु को अनेक धर्मात्मक सिद्ध करने के पश्चात् अकंलकदेव कहते हैं कि—

अनेक धर्मात्मक वस्तु का बोध कराने के लिए शब्द का प्रवृत्ति दो रूप से होती है क्रम से योगपद्य से तीसरा वचनमार्ग नहीं है। जब वस्तु में वर्तमान अस्तित्व धर्मों की कालादि के द्वारा भेदविवक्षा होती है तब एक शब्द से भी एक धर्म का बोध कराने की मुख्यतया से तादात्म्यरूप से एकत्व को प्राप्त सभी धर्मों का अखंडरूप से युगपत् कथन हो जाता है। जब युगपत् कथन होता है तब, उसे सकलादेश होने से प्रमाण कहते हैं और जब क्रम से कथन होता है तो विकलादेश होने से उसे नय कहते हैं। सकलादेश और विकलादेश दोनों में सप्तभंगी होती है। प्रथम को प्रमाणसप्तभंगी कहते हैं और दूसरे को नयसप्तभंगी कहते हैं।

प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी के कथन प्रकार में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता है अर्थात् दोनों ही भंगों के अन्तर्गत स्यादस्ति, स्यात्नास्ति आदि भंगों के माध्यम से ही विधि और निषेध की भाषा में कथन किया जाता है। तब प्रश्न होगा

कि कैसे पहचाना जाय? कि अमुक वाक्य प्रमाण सप्तभंगी का है अथवा नय सप्तभंगी का? सामान्यतः इसका समाधान यही है कि यह वक्ता की विवक्षा पर आधारित है। वक्ता समग्र वस्तु को दृष्टिगत रखते हुए वाक्य का प्रयोग करता है तो वह प्रमाणसप्तभंगी तथा किसी धर्म विशेष को लक्ष्यकर वाक्य का प्रयोग करता है वह नय सप्तभंगी है। वक्ता यदि सम्पूर्ण कुर्सी की ओर संकेत करते हुए कहता कि कुर्सी है तो यह कथन प्रमाण सप्तभंगी के अन्तर्गत मान्य होगा। दूसरी ओर वक्ता कुर्सी को न कहकर उसके एक धर्म 'अस्तित्व' के बारे में ही कहना चाहता है तो यह वाक्य नयसप्तभंगी है।

प्रमाण सप्तभंगी :-

उपर्युक्त विवेचन से वह स्पष्ट है कि प्रमाण-सप्तभंगी और नयसप्तभंगी में अन्तर का आधार अभेद-विवक्षा तथा भेदविवक्षा है। प्रमाण सप्तभंगी के अन्तर्गत प्रत्येक कथन किसी एक धर्म का आलम्बन लेकर ही व्यक्त होता है फिर भी उसे प्रमाणवाक्य अथवा सकलादेश माना जाता है। यह वक्ता की विवक्षा के कारण संभव है अर्थात् वक्ता समग्र वस्तु को समझाने के अभिप्राय से उस वाक्य का प्रयोग करता है तो निश्चित ही वह प्रमाणवाक्य होगा। यहां यह शंका स्वाभाविक है कि एक धर्म अनन्तधर्मात्मक वस्तु का कथन कैसे कर सकता है ? इसके अतिरिक्त जिस धर्म का कथन किया जाता है वस्तु में उससे विपरीत धर्म भी विद्यमान रहते हैं ? उनका ज्ञान कैसे संभव है। विधि कभी भी निषेध का ज्ञान नहीं करवा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रमाण सप्तभंगी की योजना संभव नहीं।

'सप्तभंगीतरंगीणी' में उपर्युक्त समस्या के समाधान हेतु अभेदवृत्ति और अभेदोपचार की युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं। अभेदवृत्ति का तात्पर्य है पदार्थ और उसके गुणधर्म भिन्न नहीं है। अतः किसी एक धर्म का कथन सम्पूर्ण वस्तु का कथन ही है। अभेदापचार से तात्पर्य है धर्म परस्पर भिन्न स्वरूप है तथापि एक द्रव्य से उनका तादात्म्य-सम्बन्ध होने से उनमें अभेद मान लिया जाता है। अभेदोपचार को संस्था और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर सुगमता से समझा जा

सकता है। कोई भी संस्था भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का संगठित रूप है। उन व्यक्तियों से भिन्न संस्था का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः जहां कहीं संस्था का प्रतिनिधित्व करना होता है किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को भेजा जाता है। उस एक व्यक्ति की उपस्थिति सम्पूर्ण संस्था की उपस्थिति के रूप में स्वीकार की जाती है। इसलिए जब यह पूछा जाता है कि सम्मेलन में किन-किन संस्थाओं ने भाग लिया तो कहा जाता है कि अमुक-अमुक संस्थाओं ने इसमें भाग लिया है। फिर चाहे उपस्थित कोई एक व्यक्ति ही हुआ हो। जैसे संस्था और व्यक्ति में अभेदवृत्ति होने से एक व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण संस्था की उपस्थिति को आयुक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है। वैसे ही एक धर्म का कथन सम्पूर्ण वस्तु का कथन है इसमें संदेह को कोई अवकाश नहीं है। दूसरी ओर, संस्था की ओर व्यक्ति में भिन्नता है। संस्था समुदाय या समष्टिरूप होती है जबकि व्यक्ति व्यष्टिरूप है। फिर भी इन दोनों का अस्तित्व और हित परस्पर जुड़ा हुआ है इसलिए इनमें अभेदोपचार की स्थिति है। इसमें एक व्यक्ति की उपस्थिति सम्पूर्ण संस्था की उपस्थिति मान ली जाती है। जिस व्यक्ति को भेजा गया है उससे भिन्न स्वभाव और क्षेत्र कार्य करने वाले अन्य व्यक्ति भी उस संस्था में रहते हैं चूंकि सभी एक संस्था से जुड़े हुए हैं अतः एक ही उपस्थिति सबकी उपस्थिति मान ली जाती है। इसी प्रकार एक गुणधर्म का कथन समस्त विरोधी, अविरोधी गुणधर्मों का कथन है—ऐसा मान लिया जाता है क्योंकि एक द्रव्य के साथ उनका तादात्म्य सम्बन्ध है। अभेदवृत्ति और अभेदोपचार की आधारभूत आठ दृष्टियां हैं— काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द। इन आठ तथ्यों के कारण एक धर्म अन्य सभी धर्मों के साथ साम्यता रखता है। यही कारण है कि एक के माध्यम से अन्यान्य सभी धर्मों का भी कथन होता है। दो जुड़वा बच्चे होते हैं। उनमें यदि आकृति, उम्र, स्वभाव इत्यादि बातों के लेकर समानता पाई जाती है तो एक का परिचय देने पर दूसरे का परिचय देने की आवश्यकता नहीं रहती है। इतना ही कहने की आवश्यकता रहती है। कि जैसा यह है दूसरा भी वैसा ही है। ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त आठ बातें जिस प्रकार एक

धर्म में पाई जाती है। उसी प्रकार वस्तु में वर्तमान दूसरे अन्य धर्मों से भी पाई जाती है। उदाहरणार्थ प्रमाणसप्तभंगी का प्रथम भंग बना—‘स्यादस्त्येव घटः’—घट किसी अपेक्षा से अपना अस्तित्व रखता है। इसमें घट के अस्तित्व धर्म का कथन किया गया। कालदृष्टि से इस धर्म पर विचार करें तो पायेंगे कि जिस समय घट में अस्तित्व धर्म पाया जाता है उसी समय अन्यान्य धर्म भी पाये जाते हैं। एक ही समय में एक ही पदार्थ में उन सभी धर्मों की सहस्थिति होने से काल की अपेक्षा से उनमें अभेदवृत्ति है—**तेषामेककालावच्छिन्नैकाधिकरणवृत्तित्वंकालेनाभेदवृत्तिः**। आत्मरूप की दृष्टि से भी चिन्तन करें तो पायेंगे कि अस्तित्व जिस प्रकार घट पदार्थ का एक गुण है। घट का गुण होना अस्तित्व का स्वरूप है इसी प्रकार अन्यान्य सभी धर्म भी घट के ही गुण है। उनका स्वरूप भी घट पदार्थ का गुण होना ही है। अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व का आधार जैसे एक घट पदार्थ है वैसे ही अन्य सभी धर्मों का आधार भी वह घट— **एकाधारवृत्तित्वमर्थेनाभेदवृत्तिः**। सम्बन्ध पर विचार करें तो पायेंगे कि अस्तित्व गुण का अपने अपने गुणी घट पदार्थ के साथ कथंचित् तादात्म्य—सम्बन्ध है। गुण बिना गुणी के नहीं पाया जाता है। गुणी भी गुण के अभाव में अपना अस्तित्व नहीं रखता। अतः इस दृष्टि से इनमें तादात्म्य है। विवक्षित ‘अस्तित्व’ धर्म घट पदार्थ के अभाव में नहीं पाया जाता। अतः घट और अस्तित्व में तादात्म्य है। जिस प्रकार अस्तित्व धर्म का अपने धर्मों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। उसी प्रकार अन्यान्य सभी धर्मों का भी जो उस समय घट में विद्यमान है घट के साथ तादात्म्य सम्बन्ध सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं क्योंकि गुण और गुणी, आधार और आधेय धर्म और धर्मों के रूप में उनमें परस्पर भेद भी हैं—

कथंचित्तादात्म्यलक्षणोऽस्तित्वस्य सम्बन्धस्स एव

अनन्तधर्माणामपीत्येकसम्बन्धप्रतियोगित्वं सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः।।

उपकार का तात्पर्य स्वयं के वैशिष्ट्य का सम्पादन अथवा अपनी और से विशेष योगदान देना। प्रत्येक गुण अपने पदार्थ में कुछ न कुछ विशिष्टता पैदा करना ही

है। अस्तित्व वस्तु को सद्रूप बनाता है। वैसे ही उसमें पाये जाने वाले नील, पीतादि रंग उसे नीला या पीला रूप प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त तद्गुणविशिष्ट वस्तु का बोध कराना भी उपकार है। अस्तित्व गुण अस्तित्वयुक्त घट पदार्थ का ज्ञापक होता है वैसे ही उसमें पाये जाने वाले नीलादि रंग नीलवर्णयुक्त घट विशेष का ज्ञान करवाते हैं। इस प्रकार सभी गुणों का कार्य एक समान ही होने से उनमें अभिन्नता सिद्ध होती है—‘इत्येककार्यजनकत्वमुपकारेणाभेदवृत्तिः। गुणिदेश से तात्पर्य पदार्थ का हिस्सा अथवा भाग है। अस्तित्व पदार्थ के जिस भाग में पाया जाता है। नास्तित्व आदि अन्य धर्म भी पदार्थ के उसी भाग में पाये जाते हैं। ऐसा नहीं होता कि अस्तित्व घट के मुख्यभाग में पाया जाता है नास्तित्व उसके तलभाग में पाया जाता है। अतःस्थान की दृष्टि से भी उनमें समानता है— ‘एकादेशावच्छिन्नवृत्तित्वं गुणिशेनाभेदवृत्तिः।’ संसर्ग भेदप्रधान सम्बन्ध है। संसर्ग की दृष्टिद से घट पदार्थ के साथ अस्तित्व का जैसा सम्बन्ध अन्यधर्मों का भी है। ये सभी गुण—गुणी भाव सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार संसर्ग की अपेक्षा से भी ये सभी धर्म साम्यता रखते हैं। शब्द की दृष्टि से भी अस्तित्व आदि धर्म परस्पर साम्यता लिये हुए हैं। ‘अस्तित्व’ शब्द अस्तित्ववान् वस्तु का वाचक बनता है। इस प्रकार ही ‘नास्तित्व’ आदि शब्द भी उस प्रकार के धर्म से युक्त उसी एक वस्तुके ही वाचक बनते हैं। इस प्रकार काल आदि के आधार पर धर्मों का परस्पर में तथा आधारभूत द्रव्य के साथ अभेद सम्बन्ध है। यह अभेदवृत्ति तभी संभव है जब द्रव्यार्थिक नय की मुख्यतया रहे और पर्यायार्थिक नय गौण रहे। कहने का तात्पर्य है वस्तु तथा धर्मों के मध्य पाई जाने वाली विशिष्टताओं को गौणकर समानताओं को मुख्यता देने पर ही वे अभिन्न और अन्योन्याश्रित प्रतीत होते हैं अन्यथा उनमें भेद दृष्टिगौचर होता है। भेद की स्थिति में उन्हें अभिन्न मानना अभेदोपचार कहलाता है।

नय सप्तभंगी :-

नयसप्तभंगी का आधार भेदवृत्ति एवं भेदोपचार है। भेदवृत्ति अर्थात् वस्तुतः भेद का होना, भेदोपचार अर्थात् द्रव्यार्थिक दृष्टि से भेद न होने पर भी पर्यायार्थिक दृष्टि

से उसे मानना। द्रव्यार्थिकनय को गौण करने पर तथा पर्यायार्थिक नय को मुख्यता देने पर नयसप्तभंगी अस्तित्व में आती है। इसके अन्तर्गत वक्ता की दृष्टि के आधार पर हमने पदार्थ और उसके गुणों में अभेद स्थापित होते हुए देखा नय सप्तभंगी में उन्हीं आठ दृष्टियों के आधार पर पदार्थ तथा गुण परस्पर एक दूसरे से भिन्न होते हुए दिखाई देते हैं। यही कारण हैं कि नयसप्तभंगी का प्रत्येक प्रकथन विवक्षित धर्म का ही ज्ञान करवाता है उससे भिन्न अन्य धर्मों का नहीं। उदाहरणार्थ— कालदृष्टि से विचार करें तो एक ही वस्तु में एक समय में परस्पर विरुद्ध नाना गुणों का रहना संभव नहीं है। यदि किसी प्रकार से संभव मान लिया जाय तो जितने प्रकार के गुण होंगे उतने ही प्रकार का गुणी होगा। गुणभेद से गुणीभेद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। आचार्य सिद्धसेन ने इसी तथ्य के आधार पर वस्तु की विविधता की सिद्धि की है।

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणज्जाया वा वि।

तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं।।

इस प्रकार पर्यायार्थिक दृष्टि में विविध प्रकार के गुणों, धर्मों और पर्यायों में परस्पर भेद होने से एक गुण अथवा धर्म का कथन अन्य गुणों अथवा धर्मों का बोध नहीं कराता है। द्रव्यार्थिक दृष्टि अभेदप्रधान होती है जबकि पर्यायार्थिक दृष्टि भेदप्रधान होती है। इसके अनुसार प्रत्येक गुण द्रव्य तथा द्रव्य के अन्य गुणों से अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। इस स्वतंत्रता के कारण ही नाना प्रकार के परिणमन, कार्य और प्रयोजन सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रमाणसप्तभंगी एवं नयसप्तभंगी का विवेचन किया गया है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादि दर्शन है। अर्थात् एक वस्तु में अनेक धर्म को यह स्वीकार करता है अन्य दर्शनों में यह मान्यता नहीं है। ये अनेक धर्म एक वस्तु में एक साथ अपेक्षा के आधार से रहते हैं। जैसे— स्यात् अस्ति घटः और स्याद् नास्ति घटः इन वाक्यों में घट विशेष्य हैं और नास्तित्व ये दोनों धर्म विशेषण हैं। ये दोनों अपेक्षा के आधार पर ही साथ में रहते हैं।

सापेक्षता वाद का यह सिद्धान्त अनेक समस्याओं का समाधान करता है। इसी के निर्देश तक अस्तित्व और नास्तित्व जैसे विरोधी तत्व भी रहते हैं आग्रह जो अनभीष्ट समस्याओं का उद्भावक है। उसे अनेकान्त दृष्टि से ही मिटाया जा सकता है उस प्रकार अनेकान्तवाद और उससे प्रसूत सप्तभंगी न केवल शास्त्रीय विवेचन के विषय है। अपितु ये लोक व्यवहार में नितान्त उपयोगी है।

अनेकान्त का स्वरूप :-

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है। इसलिये इस तथ्य को मानने के कारण जैनदर्शन को अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है। दर्शनशास्त्र के द्वारा वस्तु का सम्यग्ज्ञान होता है। ज्ञान की प्रक्रिया दो प्रकार की है। प्रमाण के द्वारा और नय के द्वारा। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—

‘प्रमाणनयैरधिगमः।³⁵’ अर्थात् प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु का अधिगम (ज्ञान) होता है। नय से जो वस्तु का ज्ञान होता है। वह अंशग्राही होता है। और प्रमाण से जो ज्ञान होता है वह सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान होता है। इसलिये प्रमाण से होने वाले ज्ञान को सकला देश कहते हैं। और नय से होने वाले ज्ञान को विकला देश कहते हैं। नय के द्वारा जो एक अंश का ज्ञान होता है वहाँ वस्तु के अन्य अंश का निराकरण नहीं किया जाता है। सकला देश प्रमाणाधीन होता है। और विकलादेश नयाधीन होता है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु भेदाभेदात्मक होती है। अभेद का अर्थ है सामान्य। और भेद का अर्थ है विशेष। प्रमाण यदि अभेदग्राही है तो नय विशेष ग्राही होता है।

सकलादेश विकलादेश :-

वस्तु की अवगति में जिस प्रकार प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार वहाँ नय का भी महत्व कम नहीं है। प्रमाण के द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु जानी

35 तत्त्वार्थसूत्र 1/6

जाती है। तो उसमें अन्य धर्मों का निराकरण न करते हुए विवक्षित अंश का ग्रहण करना यह नय का काम है। नय के द्वारा अंश का ग्रहण करना विकलादेश कहा जाता है, क्योंकि वहाँ सम्पूर्ण का ग्रहण न होकर विकल का ही ग्रहण होता है। विकलादेश के विपरीत वस्तु का सम्पूर्णतया ज्ञान सकलादेश कहा जाता है, इस प्रकार कहा जा सकता है कि सकलादेश प्रमाण के आधिन होता है।

कुछ लोगों ने सकलादेश और विकलादेश को श्रुत के उपयोग के रूप में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि सकलादेश प्रमाण या स्याद्वाद है। और विकलादेश धर्मान्तर की अविवक्षा से एक धर्म का कथन रूप है। सकलादेश में वस्तु का सम्पूर्ण रूपेण ज्ञान होता है। और विकलादेश में धर्मान्तर की अविवक्षा होती है।

वस्तु के शेष धर्मों से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता है। लघीयस्त्रय में सकलादेश और विकलादेश के सम्बन्ध में लिखा है—

उपयोगौ श्रुतस्य दौ, स्याद्वाद नयसंज्ञिती।

स्याद्वादः सकलादेशी, नयो विकलसंकथा।।³⁶

अर्थात् श्रुतज्ञान के दो उपयोग हैं। १. स्याद्वाद २. नय स्याद्वाद को प्रमाण व विकलादेश का नय कहते हैं। सप्तभंगी के सातों भंग जब सकलादेशी होते हैं। तब प्रमाण तथा जब विकलादेशी होते हैं तब नय कहे जाते हैं। इस प्रकार सप्तभंगी भी दो भागों में विभक्त हो जाती है। तब प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ को ग्रहण करता है। जैसे **ज्ञो जीवः** कहने से जीव के ज्ञान के गुण का मुख्यतया बोध होता है। शेष धर्मों का गौणरूप से उसी के भीतर प्रतिभास होता है। विकल एक धर्म का मुख्य रूप से ज्ञान कराने के कारण यह वाक्य विकलादेश या नय कहा जाता है। विकलादेशी वाक्य में भी स्यात् पद का प्रयोग होता है। जो उस वस्तु के शेष धर्मों की गौणता का बोधक होता है। इसलिए स्याद् पद से युक्त नय सम्यग्नय कहा जाता है। सकलादेश में धर्मों वाचक शब्द के साथ एवकार लगता है—जैसे स्यात् जीव एव। यहाँ धर्मों का अखण्ड

36 लघीयस्त्रय का 62 पृ. सं. 21

रूप से बोध होता है। विकलादेश मे स्यात् असत्येव जीवः इस तरह धर्म वाचक शब्द के साथ एवकार लगता है। जो अस्तित्व धर्म का मुख्य रूप से बोध कराता है।

यहाँ ऐसा भी कहा जाता है की प्रमाणनय के लिए पदार्थों को उपस्थित करता है। और नय उसमें से अंश का विवेचन करता है। इस प्रकार नय और प्रमाण का उपजीव्य और उपजीवक भाव सम्बन्ध है। इन तथ्यों को सन्दर्भित करते हुए यहाँ नय के स्वरूप और नय के भेदों पर विचार किया गया है।

प्रमाण का विषय है अखण्ड वस्तु और नय का विषय है उसका एक अंश। इस दृष्टि से नय न प्रमाण है और न अप्रमाण है किन्तु प्रमाणांश है जैसे शरीर का एक अवयव न शरीर है और न अशरीर किन्तु शरीरांश होता है। इस कथन वस्तु को जानने का जो साधन है उसके दो भेद किये गये हैं— १. प्रमाण २.नय

हम नय, अनेकात और स्याद्वाद को इस प्रकार निरूपित इस कर सकते हैं—

१. वस्तु के एक-एक पर्याय का बोध और कथन करने वाला नय है।
२. वस्तु के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों का बोध और प्रतिपादन करने वाला अनेकान्त है।
३. ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय जैसे विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों में समन्यवय स्थापित करने वाला स्याद्वाद।

इनमें नय मूल है। अनेकान्त और स्याद्वाद उसका उत्तरकालीन विकास है। अनेकान्त को तत्वमीमांसा का सिद्धान्त, स्याद्वाद को तार्किक सिद्धान्त और नयवाद को ज्ञानमीमांसा का सिद्धान्त बतलाया जाता है। यह धारणा दार्शनिक युग के आधार पर बनी हुई है। कुछ विद्वानो ने स्याद्वाद की सप्तभंगी को तार्किक सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत किया है। वास्तव मे अनेकान्त, स्याद्वाद और नय-ये तीनों ज्ञान मीमांसा के अंग हैं इनका सम्बन्ध श्रुतज्ञान से है। इस प्रकार इस अध्याय में नय सप्तभंगी आदि विशेष रूप से विवेचित किये गये हैं।

‘प्रतिपत्तुरभिप्रायो नयः’

